

श्री वट्टमानाय नमः

दि० जैन साहित्य में विकार

लेखक—

पूज्य श्री १०८ विद्यानन्द जी मुनि

प्रकाशक

मन्त्री—जन विद्यार्थी सभा
बादनी चौक, दिल्ली

फागुन वृत्त १० घनिवार
वीर स० २४६०

द्वितीय बार }
१०००० }

दिनांक
८ फरवरी १९६४

{ मूल्य
{ १५ मये पैसे

प्राप्ति स्थान—

आर० सी० जैन

४५७० पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

मुद्रक

सम्राट प्रेस,

पहाड़ी धीरज, दहली ।

प्राक् दो शब्द

मनुष्य अपने भावों को दो प्रकार से व्यक्त किया करता है—
 १ वचन द्वारा तथा २ लेख द्वारा। हमारे जो शब्द बानों द्वारा सुनाई देने हैं। वे यद्यपि अङ्ग पुद्गल द्रव्य की पर्याय रूप हैं किन्तु शब्द वर्णनायें मनुष्य के मुखान्तर्यामी जीभ, दाँत, घोंठ, ताम्बू, कण्ठ आदि के सम्पर्क से अ इ उ क ख आदि अक्षरों के रूप में अथवा 'देव गुरु, माय' आदि विभिन्न प्रकार के शब्दों के रूप में या किसी अभिप्राय विशेष के प्रगट करने वाले शब्दों के समुदाय रूप वाक्यों (गाय एक उपयोगी पशु है आदि) के रूप में परिणमन किया करती हैं। उनको सुनने वाला व्यक्ति उस वक्ता (बोलने वाले) के हृदय की बात को समझ लेता है। इस तरह जब (निर्जीव) पौद्गलिक शब्दों के माध्यम से आरम्भ अपना भाव दूसरे सुनने वाले जीवों के नामने स्पष्ट रूप देना है। सुनने वाले मनुष्य भी उस ही जब शब्दों के माध्यम से बोलने वाले के भावों को समझ लेते हैं।

शब्द जब होते हैं इस कारण वे न तो स्वयं अपने निर्जीव रूप में प्रामाणिक होते हैं और न अप्रामाणिक। शब्दों में प्रामाणिकता सत्यता यथार्थभावित्व मनुष्य के आधारे से आया करता है। तथा असत्य भाषी, विश्वासघाती, छली, कपटी मनुष्य के मुख द्वारा प्रगट हुए शब्द उस व्यक्ति की अप्रामाणिकता के आधार से असत्य अप्रामाणिक, विश्वास के अयोग्य हुया करते हैं। यानी-सत्यता की प्रामाणिकता से शब्दों में प्रामाणिकता आती है और सत्यता की अप्रामाणिकता से शब्दों में अप्रामाणिकता आया करता है।

अहं त भगवान् की वाणी इसी कारण स्वतः (अपने आप) पूरा प्रमाण (सत्य—वैषाद्य, विश्वस्य, श्रद्धय) मानी जाती है, क्योंकि अहं त भगवान् पूरा ज्ञानी और पूर्ण वीतराग (कषाय भावना शून्य निर्मल, निर्विकार भाव वाले) होते हैं। इसी कारण ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर भी सवज्ञ वीतराग भगवान् महावीर की (आप प्रायों में लिखित) वाणी पूर्ण प्रामाणिक मानी जा रही है।

वक्ता लिखकर जो अपने भाव प्रगट करता है, उस विषय में भी ऐसी ही बात है। कागज या ताड़-पत्र आदि पर लिखा हुआ लेख या ग्रन्थ आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थ है। कागज, ताड़पत्र, लेखनी मणिपत्र (दवात) य सब साधन ज्ञान-शून्य अचेतन पदार्थ हैं। कागज आदि पर लेखनी द्वारा विविध प्रकार के घाजारों में लिखने वाले हाथ भी वास्तव में जड़ रूप पौद्गलिक शरीर के अंग हैं। फिर भी पर पदार्थ रूप जड़ ग्रन्थ प्रामाणिक या अप्रामाणिक माने जाते हैं। उस प्रामाणिकता का आधार दुर्भावना रहित स्व परहितपी आत्मा है। निर्जोष समयसार ग्रन्थ इसी कारण प्रामाणिक है कि विद्वान्परहितपी, स्व-सह भावना वाले श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने उसकी लिखा है।

प्रचलित सोता मैत्रा की कहानियाँ, अकबर वीरबल व प्रतीफे, धाममागियों के दुराचार-भोषक ग्रन्थ नास्तिकता को पुष्ट करने वाले चार्वाकों के दास्य एकांतवाद की प्रकृपक पुस्तकों हिंसा विधान करने वाले ग्रन्थ इसी कारण अप्रामाणिक हैं कि उनके लिखनेवाले व्यक्ति राग द्वेष, मोह भ्रम, मिथ्या श्रद्धा मिथ्या धारणा आदि दुर्भावों से प्रस्त हैं या ये उनके लिख हुए ग्रन्थों ने उससे न हिंसा, अविचार कामवासना, मांस भक्षण मदिरापान नास्तिकता आदि का प्रचार किया है।

अतः सज्जन, सत्य ज्ञानी, स्वपरहितपी, जनसाधारण व उपकारक, निष्पक्ष (कषाय-शून्य भावित, समय से मुक्त) विद्वान् ही प्रामाणिक ग्रन्थ लिख सकते हैं।

हमको कोई भी ग्रन्थ लिखते समय अथवा किसी ग्रन्थ की टीका करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि एक भी शब्द परम प्रामाणिक जिनवाणी (जो कि श्री कुन्दकुम्भ, उमास्वामी, समस्त भद्र, पूज्यपाद अक्षय देव, वीरसेन, विद्यानाथ आदि आचार्यों के आर्ष ग्रन्थों में विद्यमान है) के विरुद्ध न हो। प्रत्येक शब्द उन आर्ष ग्रन्थों के अनुसार ही, ऐसा ध्यान रखकर गहरे अध्ययन के साथ जब हम कुछ सावधानी से लिखेंगे तब ही हमारा शिवा हुआ ज्ञान या ग्रन्थ प्रामाणिक होगा स्व-पर-वक्ष्याणकारी होगा और हमारी स्वच्छ कीर्ति का दृढ़ स्तम्भ होगा।

कुछ समय से ग्रन्थों की टीका करने या स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने का ऐसा प्रवाह चल रहा है कि पचास-सत्तर नये-नये ग्रन्थ प्रकाशित तो हो रहे हैं, परन्तु उनमें मूल ग्रन्थकार के भावों की साहसरोह कर बिगाड़ दिया जाता है जिनवाणी के विरुद्ध अपनी भ्रातृ दुर्मतिना का समावेश उनमें कर लिया जाता है। जो स्वतंत्र पुस्तकें लिखी जाती हैं उनमें आर्ष-पर-धारा का अनुकरण नहीं किया जाता अपनी दुषित कल्पाही भावना को उन पुस्तकों में भर दिया जाता है। जिनसे वे शास्त्र में वक्ष्याणकारी 'शास्त्र' न रहकर आरम पाठक शास्त्र बन गये हैं या बन जाते हैं, क्योंकि उनसे पढ़ने, सुनने तथा अध्ययन करने से स्वमिद्वान्त के विषय में भ्रम भावना जन्म लेता है।

ऐसे विकृत ग्रन्थों का पठन, पाठन, अवलोकन स्वाध्याय ग्रन्थ-मण्डारों में रचना निषिद्ध होता चाहिए जिनसे भ्रम भावने, सिद्धांत से अपरिचित स्त्री पुष्टा का ग्रहण न होने पावे।

कुन्ती और कुत्ती शब्द लिखने में या जानने में एक बिन्दु मात्र का फाँस-सा अंतर है परन्तु उनके अभिप्राय में महान् अंतर है। कुन्ती पांडवों की माता का नाम है जब कि कुत्ती शब्द 'कुत्तिया' का साधक है। एन शब्द की अगुद्धि से जब इतना महान् अंतर पड़ जाता है तब आर्ष सिद्धांत के विरुद्ध लिखे गए ग्रन्थों द्वारा जो भावों (अभिप्रायों) में महान्, अनर्थकारी अन्तर पड़ जाता है।

ऐस अन्यों से जन साधारण को बचाने की सद्भावना से मैंने या छोटी सी पुस्तक लिखी है। श्री० जन साहित्य में इस समय जो विकास आ गया है तथा जा रहा है उसका परिणाम कराना ही इस पुस्तक का मूल म्येय है। आशा है जनता इस पुस्तक से महान लाभ प्राप्त करेगी

मैं भी बरपन्न हूँ, अतः सावधानी रखते हुए भी भुक्त में त्रुटि होने असम्भव नहीं है। विज्ञ पाठक यदि उन त्रुटियों को मेरे पास पहुँचा का प्रयास करेंगे तो उन त्रुटियों को निकाल लिया जावेगा, साथ ही उसका धृत आभार भी मानूँगा।

यहाँ पर मैं श्री० श० शांतलप्रसाद जी का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि उनके साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं हो पाया, अतः मैं उनके विषय में व्यवस्तक रूप से कुछ विवेक नहीं जानता परन्तु उनके द्वारा श्री कुन्दकुन्द आवाय के ग्रन्थों पर लिखी गई उनकी हिन्दी भाषा टीकाओं का स्वाध्याय करने का मुझे जिनना अवसर मिला है उससे यह बात जान सका हूँ कि उन्होंने अपनी टीकाओं में तथा मौलिक रचनाओं में जिनवाणी का निर्दोष रूप स्थिर रखा है कहीं कोई विकार मुझे उनका ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

मनुष्य अतरङ्गता तथा कषायभाव के कारण अपने कलुषित एवं कल्पित निराधार भाव जब दूसरों के मस्तक में उतारना चाहता है जब मिथ्या अभिमान उसका विद्वत साहित्य लिखने की प्रेरणा करता है तब उस दुरभिमान और दुराग्रह से लिखा गया ग्रन्थ या साहित्य उसकी चिर स्थायी धपकीर्ति का कारण तो बनता ही है किन्तु उसके साथ जनसाधारण को भी कुछ समय के लिये भ्रम में डालकर श्रद्धालु समाज में कलह और भ्रम का बीज बो देता है।

इसी कारण अपने ज्ञान का अभिमान, तपस्या का अभिमान और कीर्ति का प्रलोभन आत्मा को सत्यपथ से भ्रष्ट करके अनेक अहितकारी अन्ध फलाता है। उन अन्यों में विद्वत साहित्यका रचना भी एक है।

भूतकाल में भी कुछ सिद्धान्त विद्वत विद्वत साहित्य लिखा गया था

परन्तु दिगम्बर जन समाज में यह स्थायी प्रामाणिक स्थान न था सका । ऐसी ही बात बलमान के विद्वत माहिर्य के विषय में होगी ऐसी भिरी हड़ ब्यासा है ।

हमने दि० जन साहित्य में पाये हुए विकार को दूर करने कराने की भावना से यह पुस्तक लिखी है, निन्दापरक भावना इस विषय में हमारी लेखमात्र भी नहीं है बत बुद्धिमान पाठक उसको उसी रूप में खानने का यत्न करेंगे, अथवा रूप न लेंगे ऐसी आशा है ।

श्रमण संस्कृति

जनसंस्कृति का दूसरा नाम श्रमण-संस्कृति है । श्रमण' शब्द का अर्थ 'साधु' है । तदनुसार आद्य तीर्थंकर भगवान् श्रमणनाथ जनसंस्कृति के प्रवर्तक तब ही बन जबकि उन्होंने सगस्त भारम्भ परिग्रह राजपाट, घद परिवार का त्याग करके अपना दिगम्बर वेग बनाया और एक हजार वर्ष तक मौनभाव से उपस्मा की, तब ही वे मोग्यपथ प्रदर्शक या जन संस्कृति का निमायास करने वाले उपदेश देने छसस्य (भारत अपुण-जानी) एव सराग अवस्था में उन्होंने धम उपदेश का एक वाक्य भी किसी को न कहा । अतएव जनसंस्कृति का धारम्भ श्रमण भगवान् श्रमणनाथ से हुआ ।

उनकी उस श्रमण-परम्परा को उनके अनुवर्ती निम्न श्रमणों ने तथा पंचादवर्ती अथ २३ तीर्थंकरों ने अपनाया । इस तरह जन संस्कृति के प्रवर्तक कोई गृहस्थ नहीं हुए, न कोई पंचवर्ती, महलेश्वर राजा या सेठ हुए इसके प्रवर्तक तो साधारण कीचड से दूर निमल सच्चरिन, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी श्रमण (साधु) ही रहे हैं । जो व्यक्ति स्वय विषय भोगों से, सारीरिक राग से फँसा हो वह क्या भारत बुद्धि का उपदेशक बन सकेगा । स्वय इन्द्रियों का दास बनकर शरीर की सेवा करना दूसरों को आत्मादि का उपदेश देना परस्पर विद्वद, निन्धार प्रभावहीन बात है ।

श्रमण श्रद्धा, ज्ञान चरित्त का आराधक होता है । उसको जिनवाणी

पर अफल थड़ा होती है उसे अनसाहिर्य का, ससार, मुक्ति संसार के साधन, मुक्ति के साधन, आत्मा अनात्मा का, हेय उपादेशका परिपक्व ज्ञान होता है और अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तपश्चर्या का अन्यासी होता है ।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक प्रयोगों में शुद्ध आत्मस्वरूप को पढ़कर अपने आपको सिद्ध समान शुद्ध-शुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे, वह क्या तो अपने कर्मरोग को पहचान पावेगा और क्या उस कर्मरोग से छूटने का पत्तन करेगा । तथा क्या उसको जिनवाणी का अर्थान और ज्ञान होगा ? जिनवाणी की अर्थान और ज्ञान तो कमब-ध तथा कमसोधन (सर्व निजरा) के विधान की अर्थान एवं जानने में निहित है । उस अर्थान और ज्ञान का फल अन्तरंग बहिरंग तपस्या द्वारा कममत्त से आत्मा का शोधन (दूर करना) है । श्रमण का अर्थ इस अर्थान ज्ञान और तपस्या में समाया हुआ (निहित) है ।

नाटक में राजा का (ऐक्टिंग) अभिनय करते समय कोई मनुष्य अपनेआपका राजा समझ बैठे तो वह अपनी दरिद्रता की ब्याधि से मुक्त नहीं हो सकता इसी तरह शास्त्र में शुद्ध आत्मस्वरूप को पढ़कर कोई अपने आपको शुद्ध परमात्मा भ्रम से मान बैठे तो वह अम मरण ब्याधि से छूट नहीं सकता इसके लिए तो उसे तपस्या का अर्थान करना पड़ेगा । सोने का शुद्ध अर्थान बहने या समझ लेने से नहीं हुआ करती, उसके लिये तो अग्नि पर तपाने का कठिन परिश्रम भी करना पड़ता है । ऐसे ही शुद्ध अर्थान और ज्ञान के साथ आत्मा का तपाने पर आत्मा कममत्त से शुद्ध हुआ करता है । इस विधि में जितने अर्थान म कमी रहेगी आत्मा भी उतने अर्थान में निर्मल न हो पावेगा ।

इस तरह भगवान् श्रुपभनाथ भगवान् महावीर एवं कृष्णकृष्ण आचार्य की वाणी और तपस्या को आदर्श मानकर प्रत्येक अर्थानशुद्ध अर्थान स्त्री पुरुष का आगम अनुभार अर्थान ज्ञान और अर्थान-अर्थान (उपदेश) तथा लेखन करना (लिखना) चाहिये तथा अर्थानशक्ति अर्थान का आचरण करना चाहिये ।

विद्यानन्द मुनि

ॐ

नम सिद्धेभ्य

दि० जैन साहित्य में विकार

~*~*~

कुबकुदो गुरुजीयात्, कलावध्यात्मबोधक ।
मध्याम्भोरुहमार्तण्डो मोहाज्ञाननिवारक ॥

विश्वबन्ध श्री जिनन्द्र भगवान् क मुखकमल मे प्रकट हुई जिनवाणी से पत जगद् की कल्याणकारिणी माना है । उस जिनवाणी की सेवा हमारे पूर्वज महान विद्वान धीतराग ऋषियों—था घरसेन बाचाय, गुणघर पुष्पन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी समतभद्र पूज्यपाद, अकसक देव विद्यानदि, धीरमेन, जिनसेन प्रादि ने का है । उन्होंने गुरु-वरपर्या से प्राप्त जिनवाणी को अधिहृत रूपसे ज्यों का त्यों अपने अमूल्य ग्रन्थोंमें निबद्ध कर दिया है । ग्रन्थ लिखने समय उनका ध्येय यही रहा कि—

‘अधूनमनतिरिक्त, याथातथ्य दिना अ विपरीतात् ।’

[रत्नकरण्ड थावकाधार]

यानी—गुरुमुख से प्राप्त जिनवाणी को ग्रन्थ में लिखने समय न तो कुछ भ्रुण्ठा (तरुविवेचन में काट छाट रूपा से कपी) हो, न अधिरता (धपनी कल्पनासे कुछ धीर पिनाशट) हा न कोई विपरीत बात लिखी जावे, जिनना जसा जाना गया है, यमा उतना ही लिखा जावे ।

ग्रन्थ लिखकर अन्त में उहोंने अपनी छापण्य अवस्था प्रगट करते हुए सधुता का भी प्रकाशन किया है और सम्भव चूटियों को सुधारने का निवेदन विज्ञ पाठकों से किया है।

संस्कृत भाषा में सिद्धांत के आद्य सूत्रकार श्री उमास्वामी तत्पार्य सूत्र ग्रन्थ के अन्त में लिखते हैं—

अक्षरमात्रपदस्वरहीन व्यञ्जनसार्थिषिवर्जितरेफम् ।

साधुनिरत्र मम क्षमित्तव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसामुद्रे ।

अर्थ—इस तत्पार्य सूत्र की रचना में यदि भीने कहीं पर किसी अक्षर, किसी मात्रा, किसी पद, किसी स्वर की कमी की हो अथवा किसी व्यञ्जन किसी सार्थि या रेफ के बिना कहीं कुछ लिख दिया हो, तो विज्ञ साधु जन मुझको क्षमा करें। इस अगाध शास्त्र समुद्र में कौन व्यक्ति गलती नहीं कर सकता ?

सूत्रकार ने इस श्लोक द्वारा अपनी अल्पज्ञता की कितने सुन्दर रूप से प्रकाशित किया है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि अपने प्रख्यात अहिंसा धर्म के विनाश विवेकक प्रथम पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय के अन्त में अपनी सधुता प्रगट करते हुए लिखते हैं—

धर्णे कृतानि चित्रं, पदानि तु पदं कृतानि वाक्यानि ।

वाक्यं कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

अर्थ—मैंने इस ग्रन्थ में कुछ भी नहीं किया। विचित्र धर्णे (अक्षरों) से पद बने हैं और पदां से वाक्य बने हैं तथा वाक्यों द्वारा यह ग्रन्थ बना है।

श्री प० टोडरमल जी मोक्षमाग प्रकाशक नामक महाशय को लिखते हुए कहते हैं—

‘मैं तो बहुत सावधाना शर्लोणा। पर सावधानी करते भी कहीं सूक्ष्म अर्थ का अर्थवा अणन होय जाय तो विवेक बुद्धिमान होइ तो

सवारि करि शुद्ध करियो यह मेरी प्राय ना है ।'

श्री प० जयचंद जी छात्रदा अष्ट-नाहुड़ की भाषा टीका करने हुए लिखते हैं—

'या में किछु बुद्धि की मन्दताते तथा प्रमाद के बात अर्थ अन्याया लिखूँ तो बड़े बुद्धिमान मूल प्रथ वेलि गुद्धि करि बाँधियो मोहूँ अल्प-बुद्धि जानि समा कीजियो ।'

यहाँ इतना विशेष जानना जो काल-दोष त इस पद्यम काल मे अनेक पक्षपातकरि मनातर भये हैं तिनहूँ भी मिथ्या जानि तिनका प्रसंग न करना सवधा एकान्त का पक्षपात छोडि अनेकात रूप जिन वचन की गरण लना ।

श्री प० दौनतराम जी अपने सुंदर पद्यप्रथ छद्माला क अन्त म कहते हैं—

सपधी तथा प्रमाद तें गद्व अथ की मूल ।

सुधो सुधार पड़ो सदा जो पावो भवकूल ॥

अर्थ—अल्पबुद्धि के कारण तथा प्रमादवत्त यदि (इस छद्माला प्रथ के बनाने म) कहीं पर दग्ध या अथ की भूल हो गई हो तो सधार से पार होने के लिए बुद्धिमान पुरुष मेरी भूल को सुधार कर इस प्रथ को पढ़ने की कृपा करें ।

इसी प्रकार अन्य प्रथकारों ने भी सावधानी से महान प्रथों की रचना करने के बाट अपनी सधुता प्रगट करके अपना सौजन्य दिख-साया है ।

परन्तु आज उस आदस पद्धति का अनुकरण नहीं रहा । आजकल के टीकाकार प्राचीन निर्दोष प्रथों की हिंदी गुजराती आदि भाषाओं में टीका करते समय अपने पक्ष से ऐसा अयुक्त अनुचित गलत मटर मिला दते हैं जिसका मूल श्लोक का, पद्य या प्रथ से मेल नहीं बैठता । अन्य या श्लोक का भाव विकृत हो जाता है और साधारण अमलवादी

जनता के हृदय में घुस बस जाता है। इस तरह वे व्यक्ति ग्रन्थ या श्लोक का अर्थ न करके महान् अर्थ करते हैं और जिनवाणी भाषा की खवजा करके अर्थ की परम्परा डालते हैं।

इसके लिए मैं यहाँ कुछ उदाहरण पाठकों के सामने रखता हूँ—

श्री समन्तभद्र आचार्य रचित रत्नकरण्ड व्यावकाचार ग्रन्थ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर श्री प्रभाकराचार्यवृत्त एक संस्कृत टीका है। तथा श्री पं० सदासुख जी की हिन्दी भाषा में एक अच्छी विस्तृत टीका है। इसका सिवाय श्री पं० पद्मलाल जी याकलीवाल आदि विद्वानों के द्वारा लिखी गई और भी अनेक साधारण टीकाएँ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो चुकी हैं।

इसी रत्नकरण्ड व्यावकाचार ग्रन्थ पर भद्रपरिणामी, समन्तभद्र के अनुयायक श्री पं० जुगलकिशोर जी मुस्तार ने भी एक अच्छी टीका हिन्दी भाषा में लिखकर प्रकाशित की है। उस टीका सहित इस रत्नकरण्ड व्यावकाचार ग्रन्थ का नाम आपने 'समीचीनधर्मशास्त्र' रखा है। यह नाम अपने ग्रन्थ के दूसरे श्लोक के शेषार्थ 'समीचीन धर्म कमनिबहणम्' पूर्वाह्निक के 'समीचीन धर्म इस ज्ञान के आधार पर रखा दिया है। परन्तु ग्रन्थ का यदि प्रख्यात नाम 'रत्नकरण्डव्यावकाचार' ही रखते तो अच्छा होता अस्तु।

इस ग्रन्थ की भूमिका में श्री वासुदेव शरण अग्रवाल लिखित एक लेख भी प्रकाशित है। उसमें १७ वें पृष्ठ पर लिखा है—

सम्पदशनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।

देवा देव विबुधस्य गूढाङ्गारान्तरोजसम् ॥२८॥

अर्थ—धर्म से श्वान—बुद्धा के गहन नीच पदा मनुष्य भी देव हो जाता है और पाप से देव भी श्वान बन जाता है।

उक्त श्लोक का यह अर्थ गलत लिखा गया है। यह अर्थ २६ वें श्लोक—

इवापि देवोऽपि देव न्वा ज्ञायते यमकित्त्वियान् ।
 कापि नाम भवेदन्ना सम्पदमर्षिद्वारिणाम् ॥

के पूर्वाङ्क का है। श्री मुस्तार भी प्रसिद्ध साहित्य-शोधक विद्वान हैं किसी भी ग्रन्थ की सूक्ष्म गमती को भी वे पकड़ लेते हैं, फिर भी वे अपने ग्रन्थ में यह त्रुटि कस छोड़ गये। साधारण व्यक्ति इस गमती द्वारा भ्रम में पड़ सकता है।

इसी ग्रन्थ के ११२ वें पृष्ठ पर ग्रन्थकार श्री समन्तभद्र आचार्य का परिचय दते हुए आपने निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

यन्तो भस्मकमस्मत्सात्कृतपदु पद्मावतीदेवता—

इतोवात्त-पद-स्वमन्त्रवचन-व्याहृतचन्द्रमन् ।

आथापस्स समन्तमद्रगणमूद्येनेह काले क्लो

जन वरम समन्तमद्रमवद् भद्र समन्तापुद्ग ॥ पृष्ठ ६४

‘इस पद्य में यह बतलाया गया है कि जो भस्मक रोग को भस्मसात् करने में सक्षम है, पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति हुई जिन्होंने अपने मन्त्र वचनों से (विश्व रूप में) चन्द्रमन्त्र को बुनवा लिया और त्रिनक द्वारा यह कल्याणकारी जनमार्ग (धर्म) इस काल में सब ओर से भद्र रूप हुआ, वे गणनापक आचार्य समन्तभद्र पुनः पुनः वन्दना किये जाने के योग्य हैं।’

यहाँ पर श्री मुस्तार जी ने पद्य में आये ‘पद्मावती देवता’ शब्द का अर्थ ठीक नहीं किया। भगवान् पार्वनाथ की शासन देवी का नाम पद्मावती है। उसी देवी का उल्लेख उक्त पद्य में पद्यकार ने किया है। उस पद्मावती देवी का स्पष्ट उल्लेख न करके पं० जुमलकिशोर जी ने ‘पद्मावती देवता, चन्द्र’ का अर्थ पलट दिया। ‘पद्मावती देवी’ को पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति मिल लिया है। ‘दिव्य शक्ति’ वाचक चन्द्र है जबकि पद्य में व्यक्तिवाचक सज्ञा है।

उसी समीचीन धर्म शास्त्र (रत्नकरण्डधायकाधार) के निम्नलिखित
पद्यों की व्याख्या करते हुए श्री प० जुगलकिशोर जी लिखते हैं—

ज्ञान वधावृत्त्य धर्माय तपोधनाय गृणनिधये ।

अपनेसितोपचारोपक्रियमगृहाय विमवेन ॥११२॥

ध्यापतिध्वपनोद पदयो सवाहन च गुणरागाद् ।

वयावत्यं यावानुपग्रहोऽप्योपि सयमिनाम् ॥११३॥

अर्थ — ' और गौणता से उन तपस्वियों का भी समावेश
है जो भूल ही पूणत गृहस्थयोगी न हो किन्तु गृहवास से उदास रहते
हैं । भले ही आरम्भ परिग्रह में पूरे विरक्त न हों, किन्तु कृपि वाणिज्य
तथा मित्तों के संचालनादि जसा कोई बड़ा आरम्भ तथा ऐस महारम्भों
में नौकरी का कार्य न करते हों और प्राय आवश्यकता की पूर्ति जितना
परिग्रह रखते हों । साथ ही विषयों में भासक न हाकर जो समय के
साथ जीवन व्यतीत करत हुए ज्ञान की आराधना पुत्र भावों की साधना
और नि स्वाध भाव से लोकहित की दृष्टि को लिए हुये धार्मिक साहित्य
की रचनादि रूप तपस्वर्चस में रात दिन लीन रहते हों । '

पृष्ठ १४८ १४९

यहाँ पर श्री जुगलकिशोर जी मुख्यार ने वधावृत्त्य करने के लिए
सयमी मुनियों के समान साहित्य सेवियोंका भी पात्र रूप से लिख दिया है
जबकि मूल ग्रन्थ में उनका उल्लेख नहीं है । टीकाकार को मूल ग्रन्थकार
के उद्देश्य की विगाहना उचित नहीं प्रत्यकार के शब्दों की व्याख्या
टीकाकार विस्तृत करता है किन्तु उसकी सीमा से बाहर अपने
पास से अन्य बातें लिखना उचित नहीं, क्योंकि इससे ग्रन्थकार के
साहित्य में अवांछनीय विकार उत्पन्न होता है जो कि साधारण जनता
में भ्रम उत्पन्न करने वाला बन जाता है ।

इसके साथ साथ अज्ञान भावक का व्याख्या में भी अपनी उक्त नीति
को अपनाते हुए लिखत है—

गृहतो मुनिवनामित्वा गुरुपक्ष्णे व्रतानि परिगृह्य ।

भक्ष्याग्नस्तपस्य मुत्सृष्टश्चेत्सकम्बपर ॥१४७॥

आजकल मुनिजन अतपारिख घम को छोड़कर प्रायः मंदिरों, मठों तथा गृहों रहने लगे हैं ।

यहाँ पर श्री मुख्यनार जी न प्रकरण से बाहर और निराधार बात लिख कर टीका की सीमा का उल्लंघन किया है । प्राचीन काल में भी गृहस्थ श्रावक या राजा लोग घर परिवार त्यागी मुनियों को ठहराने के लिए पवनों में गुफायें बनवाकर तथा नगर के निकट वसतिकार्ये बनवाया करते थे विहार करते हुए मुनिगण कुछ नितक उन वसतिस्थानों में ठहर कर अथवा विहार कर जाते थे, कभी कभी मंदिरों में भी कुछ दिन ठहर कर अथवा घले आते थे ।

दक्षिण प्रायत में ऐसी सफ़ाई गुफायें अभी तक बनी हुई हैं, मथुरा के पास सफ़ाई गुफायें हैं । श्री धरमेन आचार्य गिरनार की चन्द्रक गुफा में रहने थे । प्राचीन काल में मुनि भक्त नाई और कुम्हार ने मम्मिलित रूप से अपने नगर के निकट एक वसतिगा बनवाई थी । कुम्हार ने उस वसतिगा में एक मुनि महाराज को ठहरा दिया था उसका साथी नाई दिगम्बर मुनि द्वयी था उसने उस वसतिगा में से मुनि महाराज को निकाल लिया । इस बात पर ये दोनों परस्पर लड़ पड़े और मर कर वे वन में सिद्ध और मूर्ख हुए । प्रपचार ने इसी रत्नकरण्ड श्रावककार के ११७ वें श्लोक में पूर्वमत्र में मुनियों के लिए वसतिगा बनवाने वाला उग मुनि भक्त मूर्ख का दृष्टान्त आवास गान के विषय में दिया है ।

त्रिनेत्र भक्त सेठ की कह कथा भी प्रसिद्ध है त्रिनेत्रे सुलक के कपट वेपघारी धीर का सच्चा सुलक समझ कर अपने घर के शस्त्रालय में ठहराया था । इस कथा का उल्लेख भी समानमद्राचार्य ने उपगृह्यत उग क दृष्टान्त रूप में २० वें श्लोक में किया है । इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में भी गृहस्थ्यागी मुनि गुरुस्थों के बनवाये हुए

व्यतिराजों, गृहस्थवासियों (महानों) म तथा मन्दिरों में ठहरा करत वे, तब आज भी मुनि यन् वसतिरुक्ताय धर्मशास्त्रियों वा मन्दिरों में कुछ घोड़े समय के लिए ठहर जाने हैं। फिर वहाँ से विहार कर जात हैं। उस धर्मशास्त्रा पर खरना स्वामित्व नहीं जमाते, न वहाँ गदा रहते हैं, मुनि भक्त षड्विंशति ठहराने की व्यवस्था अगुमार ही वहाँ ठहरते हैं तो एष स उनका अन्यायिक धर्म कौत छूट गया। अब कि इस समय न तो मुनि भक्त राजाओं का शासन है न बार पर्वतों म मुनिवों क ठहरने की सुव्यवस्था है।

श्री छुगल विशोर जी मुख्तार सरीखे मयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध अनुभवी विद्वान भी मूल श्लोकों के भाव से स्थलित हो गये हैं। तो फिर सामान्य विद्वान यदि इससे भी अधिक स्थलित हो कर साहित्य म विहार उत्पन्न करे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी प्रकार शुद्ध साहित्य में गई गई त्रुटियाँ उत्पन्न होकर मौलिक ग्रन्थ अपने टीकाकारों की कृपा से विकृत बन जाता है।

कविवर श्री पं० दोलतराम जी का छद्मनाम धर्म्य प्रसिद्ध है। उनके मूल रूप म तथा उसकी हिन्दी टीका म भी इन समय हेर-फेर की जा रही है। इन हेर फेर से कोमलमति साधारण जानकार इसी दुष्ट भ्रम में पड़े बिना न रहेंगे।

छद्मनाम की दूसरी छाल में पृथीत मिथ्या ज्ञान का स्वरूप बतलाने वाला निम्नलिखित पद्य है।

एवातवाय द्रुवित समस्त विषयादिक पोषक धर्मगत ।

कवित्वादि रचित य स की धर्म्यात् सो है बुभोष बहुनेन प्रासा॥१३॥

श्री पं० दोलतराम जी का छद्मनाम 'सिधर्ष म-पु' देवरी (सागर) (म० प्र०) द्वारा प्रकाशित हुआ है, श्री नमचर श्री पटोरिया द्वारा इसका सम्पादन हुआ है। इस छद्मनाम म उपरिउक्त पद्य इस तरह छाप दिया है—

एकान्तवाद दूधित समस्त विषायादिक पोषक अग्रगस्त ।

रागी-कुमतिन कृत-श्च त को ग्रन्थात् सोहै बबोध बहु देन प्राप्त । १३
यहाँ सीसरे चरण को एक दम बदल डाला है । उस तरह मूल ग्रन्थ में परिवर्तन करने का दु माहस किया गया है ।

एक अभी नया छद्मनाम सोनगढ़ के तत्वावधान में गुजराती टीका से हिन्दी में अनुवाहित होकर प्रकाशित हुआ है । प्रकाशक श्री सती वि-जन ग्रन्थमाला ६२ धनवी स्ट्रीट, बम्बई न० २ है । पुस्तक मिसने का पना दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र) है । छद्मनाम की गुजराती टीका लिखने की है, यह बात नहीं हो सके परन्तु उसका हिन्दी अनुवाद श्री मंगललाल जी जैन ने किया है ।

इस नवीन हिन्दी टीका में सोनगढ़ की पद्धति को अपना कर अनेक अन्वय किये गए हैं जो मूल ग्रन्थ की भावमयी भावना से भिन्न प्रकार के हैं । मैं यहाँ नमूने के लिये उसकी दूसरी जगह के उक्त पद्य को ही रखता हूँ ।

इस १३ में पद्य का अन्वयाय तो टीकाकार ने प्रथम अनुपुन टीका किया है परन्तु भाषा में अर्थ का अन्वय करके गहबड़ कर दिया है । टीकाकार अपने भाषा के छटे परिच्छेद में लिखता है—

“श्या दान महाप्रतादि के गुणभाव—जो कि पुण्याद्य है उससे, तथा मुनि को आहार देने के गुणभाव से सत्तर परित (अल्प सर्पादित) होना धत्तसाये, तथा उपदेश देने के शम्भाव से घम होता है—आदि त्रिनमें विपरीत कथन हो ये मात्र एकान्त घोर अग्रगत होने के कारण गुणात्त्र है, क्योंकि उनमें प्रयोगनभूत सात तर्कों की पर्यायता नहीं है । जहाँ एक तत्त्व की मूल हो वहाँ सातों तर्कों की मूल होती ही है, ऐसा समझना चाहिये ।”

ऐसा लिखकर सोनगढ़ के टीकाकार ने मूल ग्रन्थकार श्री दीनतराम जी के सरल सीधे अभिप्राय को ही बर्णन डाला है । ग्रन्थकार ने अनेक

सद्व्यसक्त नित्य धनित्य आदि एका नवादियों के लिखित ग्रंथों के अम्यास को पृथीतमिथ्याज्ञान बतलाया है तब सोनगढ़ के इस टीकाकार ने जिस ग्रंथ की बहू टीका कर रहा है उस छद्मनाम ग्रंथ को ही कुशास्त्र ठहरा दिया। एव्य असमस्त धरणांनुयोग के ग्रंथों को भी यहाँ तक धी कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रंथों को भी कुशास्त्र बतलाने का साहस किया है। क्योंकि श्री प० दौलतराम जी ने छद्मनाम की पहली डाल में दया की शयस्कर बताया है। "बहूँ शीघ्र गुरु वरुणा।" चौथी डाल में मुनि आदि सुपात्रों को दान करने को तथा अणुव्रत पालन करने को श्रावक का धर्म बतलाया है।

मुनि को भोजन देय फरि निज करे भहार ।,
 असहिता को त्याग वृथा थावर न सहार (अहिता अणुव्रत)
 पर बषकार बठोर निघ नहि बचन उचार । (सत्य अणुव्रत)
 जलमृत्तिकाविन और नाहि बपु गहूँ अस्ता,
 निज धनिता बिन सकल नारि सों रहे बिरता ।
 अपनी दसि बिचारि परिग्रह धोरो राख ।
 (अधोयं ब्रह्मचर्य परिग्रह परिणाम अणुव्रत) ।
 दूठी डाल में प्रारम्भ से ही महाव्रतों को मुनि धर्म कहा है—
 पटकाय जीव न हनन त सब विष दरब हिता टरी,
 (अहिता महाव्रत आदि ।)

इस तरह टीकाकार ने स्वयं अपने निचे अनुसार छद्मनाम को कुशास्त्र प्रमाणित करके उसकी टीका करते हुए स्व पर कल्पना किया है।

दया तथा अहिता जैनधर्म का मूल है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने दया और अहिता को अपने चारिन पाहुड़ आदि ग्रंथों में धर्म लिखा है जैसेकि 'धम्मो दयाविमुद्धो, हिसारहिमे धम्मो' आदि।

अग्निहोत्रों महाहोत्रों को चारित्र्य पाहुड़ में श्रावण धर्म, मुनिधर्म बतलाया है। रथगसार धर्म में दान करना, पूजा करना श्रावण का मुख्य धर्म बतलाया है।

रथगसार में श्री कृ-दकु-द भाचार्य लिखते हैं—

‘दाणु पूजा मुखस सावयधम्म,ण सावया सेण विण्ण’
 ‘जो पुण्य भुत्तेसेम भु जइ, सो भु जइ जिण्णवहिट्ठु ।
 ससारसारसोकस, कम्मतो णिष्वाणवरसोकव ॥२२

अर्थ—जो भगवत् शीव मुनियों को भोजन कराने के परंपरात बचे हुए भोजन को स्वयं खाता है वह ससार के अष्ट मुखों को पाता हुआ क्रम से सर्वोत्तम मोक्ष के सुख को पाता है ऐसा त्रिनेत्र भगवान ने कहा है।

सत्त्वायसूत्र रत्नकरण्ड श्रावणधर्म, मूलाचार, पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, चारित्र्यसार आदि ग्रन्थानुसंग के समस्त ग्रन्थों में उक्त दान दया अग्निहोत्र, महाहोत्र, मुनियों को आहारदान करने आदि कृत्यों का धर्म रूप से विधान है वह सब धर्म विधान इस नये टीकाकार की टीका से कुणास्त्र सिद्ध होता है। टीकाकार की दृष्टि से जन धर्म दायद दया और अहिंसा धर्म नहीं है। इस तरह टीकाकार ने ऐसा अनप्य करने कोमल मति बच्चों को तथा सहृदयता पकने वाली स्त्रियों को पयधृष्ट करने का यत्न अपनी इस टीका में किया है।

इसके सिवाय और भी बहुत से सिद्धान्त विषय टीकाकार ने इस टीका में अ यत्न लिखे हैं।

पुण्य त्याज्य है या नहीं

श्री कृ-दकु-द भाचार्य विरचित परम आध्यात्मिक धर्म समयसार पर श्री अमृतचन्द्र सूरि, श्री जयसेन भाचार्य ने प्रामाणिक संस्कृति टीकाएँ लिखी हैं तथा प० जयचन्द्र जी छावड़ा ने हिन्दी भाषा में प्रामाणिक टीका लिखी है। उन सभी टीकाओं में टीकाकारों ने

का भाव ठीक सुरक्षित रखना है परन्तु जानकी स्वामी ने जो धर्मी समयसार का प्रवचन किया है उसमें समयसार का महान अन्वय दिया है। यही इस विषय के २४ प्रमाण दते हैं -

मुदपरिचिवाणुभुवा सम्भारस त्रि कामभोग बधकहा ।

एयत्तस्मुषलभो एपरि एसुत्तहो विहृतस्तः॥४॥

इन गायी का सीधा सरल अर्थ यह है कि—

समस्त सत्सारी जीवों ने काम भोग तथा कप-बध की कथा सुनी है वे उससे खूब परिचित हैं तथा वे काम विषय भोग उनके अनुभूत हैं, परन्तु उनको इसका भिन्न आत्मा के एकत्व का उपलम्बि सुलभ नहीं है।

जानकी स्वामी जी [इस गायी पर प्रवचन करते हुए बीच में लिखते हैं—

“मनुष्य अनाज खाता है। उसका विष्ठा मूत्र नामक प्राणी खाता है।”

‘जानकी ने पुण्य को जगत की मूल की विष्ठा समझ कर त्याग दिया है। चरम ज्ञानानी जिन पुण्य को जगत से अछड़ा मानकर खादर करता है। इस प्रकार जानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्य रूप विष्ठा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं। पृष्ठ १५४ १२५।

‘कोई किसी पर का कुछ नहीं कर सकता किन्तु पर का जो होता है वह तो हुमा हा करेगा। तब फिर जान सेवा उपकार आदि न करने का तो प्रण हो नहीं रहता। जानी के गम भाव होता है किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता। पृष्ठ १२।

जानकी स्वामी का यह प्रवचन न तो मूल गायी के अनुरूप है, न ही अमरवचन गूरि तथा जयसेनाचार्य की सम्बद्ध टीका के अनुरूप है और न ५० अथवा ७ थी की हिन्दी भाषा टीका के अनुरूप है। पुण्य को विष्ठा की हीन उपमा स्वयं श्री कुन्दकुन्द ज्ञानि किसी भी आचार्य प्रवचन न नहीं दी।

पुण्य के विषय में अब विस्तरेपण करके विचार किया जावे तो पुण्य के तीन बाष्पार्थ सिद्ध होते हैं—१—पुण्य आचरण, २—पुण्य कर्म—३—पुण्य फल ।

इनमें से पंच पापों का त्याग करने सम्पन्नदृष्टि पुरुष के लिए अठिहा सरय अशौच ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण रूप पांच अणुवृत्त और मुनियों के लिए महाव्रत पुण्य आचरण है । यह पुण्य आचरण पुरुष तथा मुनि दोनों को करने धरने वर अनुगार शास्त्र (ग्रहण करने योग्य) प्रत्येक धारणकार ने बतायाया है । क्योंकि पापों की विरक्ति क कारण अणुवृत्त महाव्रतों से प्रथम निरोध क कारण सबर तथा असंज्ञातपुत्री निवृत्त भी हुआ करती है ।

इसके सिवाय महाव्रती मुनि ही आरमभ्यासपर होकर सात्त्विक्य अग्रमत्त साधना गुण स्थान प्राप्त करत हैं उसी सात्त्विक्य अग्रमत्त द्वारा अग्र में गुणोपयोगी चारित्र्य धामा आठवें गुण स्थान का पहला मुक्त्यभ्यास प्राप्त करत हैं जिससे अठनुहूर्त में मोहनीय कर्म का दाय करके यथास्वार्थ चारित्र्य पा लेते हैं । तदनन्तर अन्तमुहूर्त में ज्ञानावरण दूरीनाकरण और अन्तराय बन्ध का नाश करके नेत्रम ज्ञान पावर अर्हन्त बन जाते हैं ।

इन तरह अणुवृत्ती-पुण्य परम्परा से और सात्त्विक्य महाव्रती-पुण्य आचरण शुद्धोपयोग का साधन उपाशन कारण है ।

तथा च—अश्रुती अद्वानु भावक जो मात भक्षण मन्त्रिगान, वेत्यागमन, निवार संभवा, पुत्रा सेतना आदि दुष्कृत्यों का त्याग करने को शुद्ध ज्ञान-पान, वाय व्यवहार, दया दान आदिक पुण्य करता है वह भी त्याग्य नहीं है ।

पुण्य अचरनाम सरागचारित्र्य या भ्यवहारचारित्र्य है उस भी क्या ज्ञानी विष्टा क समान समझ छोड़ सकता है ? सराग, विराग का मिश्रित परिणाम ही सम्पन्नदृष्टि (वीतराग देव, निर्द्वेष गुरु और विनवाणी क

श्रद्धालु उपासक) का पुण्य है। उस पुण्य के राग-अस के कारण वही शुभ कर्मों का बाध होता है वहाँ ही उसी पुण्य के विराग अग से कर्मों का सबर और कर्मों की निजरा भी होती है।

२—साम्यादृष्टि की कम बाधरूप पुण्य यानी—शुभकर्म आसव-शुभ कर्म बाध त्याग्य है परन्तु जब तक साम्यादृष्टि जीव समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि नहीं बन जाता और मुनि होकर भी जब तक सातिग्य अप्रमत्त आरमध्यानी नहीं बनता तब तक वह शुभसम्यानी नहीं बन सकता। शुभसम्यानी की शुद्ध-उपयोगी दगा में भी दगावें गुण स्थान तक राग असा रहने से उसके पुण्य कर्म का बाध होता ही रहता है। इस तरह दगावें गुणस्थानक तक पुण्य-बाध से छुटकारा नहीं मिलता। अतः पुण्य कर्म बाध सत्सारा का कारण होने में त्याग्य होने पर भी सहज में नहीं छूटता।

अमध्य जीव तथा दूरातिदूर भव्य जीव के तो योग्यता न होने से पुण्य कर्म-बाध कभी भी (अतः काल तक) नहीं छूटता।

इसके सिवाय पुण्य कर्म प्रकृतियों में त्रिलोकवर्ती जीवों का सत्सारा सागर से उद्धार कराने वाली, सबसे अष्ट पुण्य रूप तीर्थकर प्रकृति वास्तवों में सोलह कारण भावनाओं द्वारा उपायेय बतलाई है।

इस तरह पुण्य कर्म बाध सबसा त्याग्य नहीं है, पापबाध की अपेक्षा वह उपादेय भी है। पञ्चमकाल में भरतशत्रु ष जीवों को जब मोहनीय कर्म का शय करने की योग्यता नहीं है, मुक्ति प्राप्त करने का या शुभल-ध्यान का निर्मात कारण भूत वचनश्रुयम माराध सहनन नहीं होता तो उस दशा में तो पापकर्म बाध से बचकर पुण्य कर्म का उपाजन साचारी से भी उपायेय है। यदि इन पुण्यकर्म बाध को आज का मनुष्य छोड़ दे तो उसके पापकर्म का ही बाध होता रहेगा।

३—पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य भव, उच्छ्व कूल, सुन्दर स्वस्थ शरीर, अच्छा गुणी परिवार, पृथ्व्याश्रम का सचासन सुविधा के साथ

करने योग्य धन सम्पत्ति का भाग आदि सामग्री मिलती है ।

उस पुण्य कर्म फल को भी किसी भी प्रकार ने विष्ठा के समान त्याग्य कहा है धन सम्पत्ति क सिवाय पुण्य कर्म के फल रूप मनुष्य भव, उच्च कुल स्वस्थ सुन्दर शरीर, तीव्रतर पत्नी, तथा साता वैश्वनीय क उदय से प्राप्त मुनिगा का भी साता रूप सुख कृषी तरह त्याग नहीं किया जा सकता और न अब तक किसी भी जानी न इन तरह के (मनुष्य भव आदि का) पुण्य फल का कभी त्याग ही किया है ।

विरक्त सम्पत्ति दृष्टि रहस्य दशा में पुण्य कर्म के उन्मत्त से प्राप्त धन सम्पत्ति का दान रूप में त्याग किया करता है परिग्रह का परिणाम रूप मीमिल त्याग करता है और परिवार पोषण क लिए समय भाई पुत्र आदि के हो जाने पर घर-बार से भी विरक्त होकर समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि बन जाता है परन्तु पुण्यकर्म के फल से प्राप्त अपने मनुष्य शरीर, उच्च कुल एवं स्वस्थ सुन्दर शरीर को ही मुनि व्यवस्था में भी नहीं छोड़ सकता ।

कानजी स्वामी मातृकता-युग पुण्य को विष्ठा को हीन उपमा दकर दूसरों को जहाँ पुण्य त्याग देने का उपदेश दे रहे हैं वहाँ स्वयं उस पुण्य आवरण को कर रहे हैं, पूव सचित पुण्य कर्म का फल दधि के साथ उपभोग कर रहे हैं तथा भविष्य क लिए कर्म का दाय कर रहे हैं । इसके सिवाय वे उक्त तीनों प्रकारों में से किसी भी तरह के पुण्य का त्याग कर भी नहीं सकते । फिर भी वे पुण्य को त्याग्य कहते हैं ?

पर-पदार्थ

कानजी स्वामी के कथन अनुसार जब पर पदार्थ किसी का कुछ भना नहीं कर सकता तो कानजी स्वामी प्रवचन किस लिये करते हैं ? प्रथम किस नियम प्रकाशित कराते हैं ? और मन्दिर क्यों बनवाते हैं ? क्योंकि प्रवचन प्रथम प्रकाशन और मन्दिर प्रतिमा आदि पर पदार्थ है ।

पट खण्ड आगम, कर्मागपाहूड तथा उनकी विस्तृत टीका घटल
अथर्वन महाघटल गोम्मटनार आदि ग्रन्थ एवं स्वयं समयसार ग्रन्थ
इस विषय का स्पष्ट पुष्ट समर्थन करते हैं कि पौद्गलिक कर्म अथर्व
अथर्व आरामा को जन्म मरण करा रहा है, उसके सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र्य
का प्रतिबन्धक, निरोधक बना हुआ है। फिर समयसार की टीका में यह
विपरीत क्यों लिखा कि पर पदार्थ कुछ नहीं करता ? ज्ञानी समयदृष्टि
आन भूम कर पाप क्रियाओं का त्याग करके समय ब्रह्म नियम तप आदि
करता है, वह पाप क्रिया का स्वामी नहीं बनता किन्तु आत्मशुद्धि के
कारणभूत, विषय कषाय को घटाने वाले शुभ कार्यों यानी-व्यवहार
चारित्र्यता तो स्वामी दृढ़ सबल्य व साथ बनता ही है। क्योंकि सम्यक्
चारित्र्य आरामा का निजी गुण है। अपने गुण का स्वामी बनना ज्ञानी का
शुद्ध कार्य है जब कि पापाचरण का स्वामी भङ्गानी बना करता है।
व्यवहार चारित्र्य निर्वच्य चारित्र्य का परम्परा तथा साक्षात् उपादान
कारण है यह बात सिद्धांत की दृष्टि से ऊपर बतला दी है।

भूयस्थेलासिगरा जीवा जीवा य पुण्य पाप य ।

आत्मन मवरणित्तर अथो मोक्षो य सम्मत ॥१३॥

समयसार की इस गाथा का मतलब सीधा अर्थ यह है कि—

जीव भोजीव आराम्य अथ सवर नित्ररा योग पुण्य पाप इन ती
पदार्थों को मर्यादा रूप ज्ञान लने पर सम्यक्त्व होता है।

‘जान पूजा इत्यादि शुभ भाव और हिंसा अशक्त्य आदि अशुभ भाव
हैं, उन शुभाशुभ भावों से धम होता है, यह मायता तो त्रिकाल
निव्याप्त है।’

श्री अमृतचंद्र सूरि तथा जयसेन आचार्यों ने इसी भाग्य को पुष्ट
करते हुए मरवृत्त टीका लिखी है परन्तु कानजी स्वामी इस गाथा की
टीका में अपने पास से नमक मिच मिला कर लिखते हैं—

“रा० पूजा इत्यादि शुभ भाव और हिंसा अशक्त्य आदि अशुभ भाव

हैं, उन शुभागुण भावों के करने से घम होता है, यह मायका से निकाल मिथ्यात्व है । भाग २ पृष्ठ ६ ।

हिंसा अमत्य आदि पापों को किसी भी दि० जैन ग्रन्थ में घम नहीं माना, उनका पाप कहा है, किन्तु दान पूजा आदि शुभ भावों को घम से समनसार के रचयिता स्वयं श्री बुद्धुद घाषाय ने अपने रचनसार ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है ।

बाण पूजा मुखस सावयपम्म ए सावया तेण बिया ।।१।

अर्थ—श्रावक (गृहस्थ) घम में दान करना और पूजा करना मुख्य है दान पूजा के बिना श्रावक नहीं हो सकता ।

जिन मन्दिर बनवाकर उसमें प्रतिमा विराजमान इभीसिये की जाती है कि उसकी पूजा करने से गृहस्थ श्रावकों को बीतराग घम की आधिक प्राप्ति होती है । आप भी इसी भावना से मन्दिरों के बनवाने के लिये अपने भर्तों से दान कराते हैं और जिन प्रतिमा के दान पूजा के शुभ भावों से घम होना नहीं मानते ! यह विचित्र बात है ।

समाधिमरण

समनसार की १६ वीं गाथा की टीका में भी आप ऐसी ही अप्रवृत्त विद्वान्त विद्वद बात लिखते हैं । दक्षिण—

कम्मं लोक्कम्मन्मियं अहमिदि अहं क व कम्म जो०कम्मं ।

या एसा जसु बुद्धो अण्णविवुद्धो हवदि ताव ।।१६।

अर्थ—जब तक यह आत्मा कम और नोकम (शरीर) को मयना या स्वयं आपको उन कम नोकम रूप समझता है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञान) रहता है ।

परंतु इस गाथा की व्याख्या करते हुए जानजी लिखते हैं—

मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देंगे वे मरे भावों में सहायक हो सकते हैं—इस

प्रकार ओ मानता है उसे अपनी स्वतंत्रता की श्रद्धा नहीं है। 'पृष्ठ २६६
 'सच्चे देव, गुरु शास्त्र के निमित्त भी पर हैं, उनका अवलम्बन ये
 भी शुभ राग होने से स्वाधीन स्वभाव में सहायक नहीं है।'

मरण के समय असह्य वेदना होती है, इस लिये उस समय प्रायः
 प्रत्येक जीव के परिणाम बलेशित प्रशुभ हो जाया करते हैं। उस अवसर
 पर यदि उस जीव के निकट धर्मात्मा मनुष्य हाते है तो ये उस मरणासन्न
 जीव के परिणामों में व्याकुलता कम कर शान्ति उत्पन्न करने के लिये
 अहन्त वीतराग का स्वरूप दर्शक नमोकार मात्र पराग्य भावना आदि
 आदि पाठ सुनाते हैं, अगुभ अगात् भावो को छोडने का उपदेश देते
 हैं जिससे मरने समय उसके भाव वीतरागता की ओर आकर्षित होते
 हैं। ऐसे मरण को समाधिमरण कहा है। समाधिमरण करने की भावना
 धर्मात्मा में स्वभाव से होती है। श्री शिवकोटि आचार्य ने इसी विषय पर
 भगवतो धाराधना नामक महान ग्रन्थ लिखा है। तत्त्वाम सूत्र (मारणा
 त्रिकीं सत्त्वैस्तना ओपिता) रत्नकाण्ड थावकाधार मूलाधार आदि
 ग्रन्थों में समाधिमरण का उपदेश दिया है। सर्पयोनिमें समाधिमरण के
 कारण ही भगवान् पार्वनाथ के प्रतिबोध देने पर मर्ष सपिण्डी भरकर
 घरणीन्द्र पद्मावती हुए। जीवघर द्वारा कहाये गये समाधिमरण से कुला
 देव हुआ, चारुत्त सेठ के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर मरणासन्न बकरा मरकर
 देव हुआ। इसी प्रकार असह्य समयी, देशसयमी, असयमी, सन्ध्याहृष्टि,
 मिष्ट्याहृष्टि स्त्री पुरुषों ने अय व्यक्तियों के अवलम्बन से समाधिमरण
 द्वारा अचिरस्य लाभ उठाया है।

उस समाधिमरण की कानजी उपयोगी नहीं समझते यह बहुसुत
 चमत्कार है।

पर पदाथ

वीतराग देव, निर्गुण गुरु ओर वीतराग की त्रिज-वाणी (सच्चे
 शास्त्र) पर पदाथ अवश्य है। परन्तु वे आत्मा की वीतरागता के प्रदर्शक

या निर्मूलक है, अतः उनके दान वदन स्तुति पूजन से आत्मा में बीतरागता जाग्रत हुआ करती है जिससे कि आत्मा का स्वाधीन निमल स्वभाव प्रकट होने में सहायता मिलती है। इसी सिद्धि के लिये देव द्वास्त्र गुह की भक्ति का राग बीरान न होकर सखार से छुटाने वाला बीतरागता मिश्रित राग होता है। उक्त मिश्रित बीतरागता कर्मण द्वारा निष्पत्त्यात्वा का सवर होता है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है और कर्मों की अमक्यात गुणों निर्मूलक होती रहती है—

यवत्त सिद्धान्त प्रथम म श्री बीरगेन भाषाये ने लिखा है—

‘मिणद्विम्ब-वसणोण निधत्तविजाविदरत्त वि मिण्णत्तादिदम्प-कसावत्त अयदसणारी ।’

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का दर्शन करने से निधत्त निजाचित रूप निष्पत्त्यात्वा आदि कर्म समूह क्षय हो जाते हैं। श्री कृष्ण-कृष्ण देव न देव द्वास्त्र गुह की बीधवाहुङ्ग प्रथम की २५वीं गाथा में भग्य बीधों का कल्याण उपाय करने वाला बतनाया है (उपायपरो भग्य बीधवाण)

क्या इन क्षय प्रथा पर कानजी स्वामी की श्रद्धा नहीं है ?

समय सार के प्रवचन में कानजी स्वामी ने प्राचीन प्रामाणिक टीकाकारों की पद्धति का परिष्कार करके स्वतन्त्र पद्धति को बतनाया है, अतः वे अनेक जगह जन सिद्धान्त की अवहलना करते गये हैं, यैने यहाँ पर उपरिलिखित तीन गाथाओं के उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं।

मुनि और कसाई बराबर हैं ?

कानजी ने प० टीटरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाशक प्रथम की सहायक पुस्तक मोक्षमार्ग की द्विरण नामक लिखी है, उसमें उन्होंने बहुत ही सिद्धान्त विरोधी निराधार बातों का समावेश कर दिया है जिनको पढ़कर साधारण श्री पुरुष भ्रान्त हो सकते हैं। यहाँ उनका कुछ उदाहरण देता हूँ।

“एक तो दूसरों वशुओं का वश करने वाला कृष्ण निश्चय युक्त
 कसाई और दूसरा 'मैं पर का कर सकता हूँ तथा मुष्य से धन
 होता है।” ऐसी निष्ठा मा पतायुक्त दुःखलान्मापारी द्रव्यनिर्ग्री
 जन साधु यह दोनों जीव धार कपायों की अपेक्षा बराबर हैं।”

[इ० अध्याय पृष्ठ ६६ ४७]

द्रव्यलिंग भावलिंग

महाव्रती निष्प्रथ साधु आरम्भमान की अवस्था में जब सातवें
 गुणस्थानवर्ती होता है और स्वाध्याय, साहार विहार, दधन आदि
 क्रियाओं के समय जब छठे गुणस्थान वर्ती होता है तब उसने 'भावलिंग'
 (बाहरी निष्प्रथ वश के समान अन्तरंग निष्प्रथ भाव) हाता है। यन्
 मुनि के अन्तरंग भाव छठे गुणस्थान से नीचे क मानी-पाषण्ड, धोये,
 लीनरे, दूमरे, पहले गुणस्थान के हो जायें तो द्रव्यलिंग के अनुरूप
 अन्तरंग भाव न रहने के कारण उस अवस्था में मुनि को द्रव्य लिंगी
 यानी—केवल बहिरंग साधना वाला मुनि कहा जाता है।

तदनुसार यदि कोई अभव्य मनुष्य मुनिलिंग धारण करके पक्ष
 महाव्रत पालन करता है तब तो वह सदा निष्ठा दृष्टि एवं द्रव्य लिंगी
 साधु ही बना रहना है और यदि कोई भव्य पुरुष मुनि व्रत धारण
 करता है तो वह कभी भावलिंगी मुनि होता है और कभी प्रत्याख्या-
 नावरण कपाय, कभी अप्रत्याख्यानावरण कपाय और कभी अनन्तानु-
 बन्धीकपायका उदय हो जाने से उन्नतसमय क भावों में च्युत हो जाने
 के कारण द्रव्यलिंगी भी बन जाता है।

इस कारण जानकी का यह निखना गलत है कि द्रव्यलिंगी
 मुनि के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और
 सज्जसन ये चारों कपायों होता है।” इन विहीन सम्पन्न दृष्टि के भाव हा
 जाने पर मुनि भयन भावों की अपेक्षा च्युत गुणस्थानवर्ती, तथा देव
 समय के भाव हो जाने पर सदसामयत गुणस्थानी हो जाने के कारण

मन्व मुनि द्रव्यलिङ्गी होकर भी मिथ्यादृष्टि नहीं होता । अतः द्रव्यलिङ्गी मुनि मिथ्यादृष्टि ही हो, ऐसा एकांत नियम नहीं है ।

इस कारण मुनि और जीवबन्ध करने वाले कसाई में कपायों की अपेक्षा समानता बनाना गलत है ।

दूसरे—कोई समन्वय पुरुष सत्कार, शरीर और विषय भोगों से विरक्त होकर मुनिदीना ले ले, तो वह द्रव्यलिङ्गी मुनि अपने अन्तरण के कल्याणमय भावों तथा शारीरिक, सांसारिक विरक्ति के कारण कसाई से अनन्यता गुणा अथवा दृम परिणामी होता है । कसाई के भाव दुष्ट निन्द्य होते हैं जबकि मुनि के भाव अहिंसा, दया रूप होते हैं । कसाई सुख से बंधक जीवों का कत्ल करता है और मुनि अपनी किसी भी प्रकृति से सुख जीवों का भी कभी संकल्पो घात नहीं करता ।

इसके सिवाय कसाई के अमत्य भाषण, चोरी, कुशील परिग्रह, मांस भक्षण, मदिरापान, गिनार आदि पापों एवं दुष्कृत्यों का त्याग नहीं होता अतः उनके परिणाम तथा कल्पित रहते हैं जबकि द्रव्यलिङ्गी मुनि पापों और सत्तों कृत्यों से रहित श्यावहारिक सत्कारिण निष्ठ होता है अतः उसके परिणाम इस दृष्टि से दृम कोमल, सरल, सत्कारि होते हैं ।

परिणामों के इसी महान् अन्तर के कारण कसाई नरक में जाता है और द्रव्यलिङ्गी मुनि सोनह स्वर्ग से भी ऊपर नीचे प्रवेयक का अहमिद्वय प्राप्त कर सकता है । इस तरह भी नरकगामी कसाई और प्रवेयक विमानगामी द्रव्यलिङ्गी मुनि एक समान नहीं हो सकते ।

द्रव्यलिङ्गी मुनि अपनी वराम्यमयो वास्तु परिणति से तथा अज्ञान ज्ञान चारित्र की ओर प्रेरणा करने वाले अपने सत् उपदेशों से सत्कार के जीवों का कल्याण करता है, जीवों को दुःख से हटाकर सुख पर लगाता है उनमें अज्ञान, वराम्य उत्पन्न करके उन्हें सत्कार से विरक्त करता है । द्रव्यलिङ्गी मुनि का उपदेश पाकर बहुत से मन्व जीव मुनि

शीला लेकर सुवचन्यानी हो मुक्त भी हो जाते हैं । इस तरह द्रुपदलिङ्गा मुनि सत्कार का बहुत उपकारी होता है । उससे जितना हो सकता है उतना अपना भी कल्याण करता है ।

कोई आध्यात्मिक प्रवृत्ता समयसार उपदेश करता रहे परन्तु उसका अन्तरंग न मिथ्यात्व कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम न हो पावे, जिससे कि अन्य व्यक्तियों को सम्यक्त्व का उपदेश देता हुआ भी स्वयं मिथ्यात्व ही बना रहे, तो ऐसा अज्ञानी आध्यात्मिक व्याख्याता भी क्या चारों कर्पाओं का उदय के कारण बकरा काटने वाले कसाई का समान है ? यह प्रश्न जानजी स्वामी के भी सामने है क्योंकि सम्भारम उपदेश देने वाला व्यक्ति सम्मर्दष्टि ही हो, यह कोई नियम नहीं है ।

जानजी स्वामी को जरा सोच समझ कर, सिद्धांत पर दृष्टि रखते हुए बातना चाहिए ।

पुण्य

में परका कर सकता है तथा पुण्य से धर्म होता है । यह मायता क्षयोपशम सम्मर्दष्टि के भां हुआ करता है, सम्मर्द प्रकृति के उदय से क्षयोपशम सम्मर्दष्टि के सम्मन्वय में यह मैंने मन्दिर बनवाया है, यह मेरा मन्दिर है ऐसे भाव तथा भगवान् पार्श्वनाथ विघ्नहर्ता हैं आदि भाव हुआ करते हैं । गोष्मटसार टीका में इसका विवेचन है ।

एवं—धोवे पाँचवें छठे और सातवें गुणस्थान में पुण्य भावों से ही कमसदर कमनिजरा रूप धर्म हुआ करता है जो कि माया का या शुद्ध उपयोग का कारण है । सातवें अग्रमत गुणस्थान के अन्त में शुभभाव ही शुद्धभाव हाकर आठवीं गुणस्थान हो जाता है ।

सम्मर्दष्टि का पुण्य सत्कार का कारण नहीं होता, परम्परा से तथा सातवें गुणस्थान की अपेक्षा साक्षात् शुद्ध परिणति का कारण है । इस लिये सम्मर्द दृष्टि जीव के पुण्य भावों से धर्म होता है, यह बात बिलकुल

ठीक है। इतना ही नहीं अपितु यह कहना भी ठीक है कि सम्मगृष्टि का पुण्य भाव स्वयं धर्मरूप है।

सम्माविट्ठी पुण्य ए हाइ सत्तारकारण तियमा ।
मोक्षस्स होइ हेउ अइदि तियमाण सो ए कुराई ॥

—भावसप्तह

अर्थ—

सम्मगृष्टि का पुण्य नियम से सत्तार का कारण नहीं है। वह सम्मगृष्टि यदि निदान (आगामी सासारिक सुखों की इच्छा) न करे तो उसका पुण्य मोक्ष का ही कारण है।

कानजी को यह बात समझना चाहिए कि सम्मगृष्टि का पुण्यभाव सराग वीतराग भाव का मिश्रित परिणाम होता है, जसा कि तीसरे गुणस्थान का मिश्रित परिणाम होता है।

वर्तमान काल में ही हीनसहनन आदि कारणों से किसी भी व्यक्ति को शुद्ध उद्योग या निश्चय धर्म, धुक्नध्यान नहीं हो सकता, इस कारण पाप विरक्त जिनवाणी के अडालु जिनवाणी के ज्ञाता सत्तारारी स्त्री पुरुषों के धुमभावमय पुण्य ही हो सकता है, जसा कि स्वयं कानजी स्वामी के भी समझ है। तो क्या इस समय कोई व्यक्ति धर्मिभा हो ही नहीं सकता ?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देते समय कानजी को अपनी भूल स्वयं दीक्ष जावेगी।

जिनवाणी और पर-स्त्री समान हैं ?

श्रीमद्भाग्य की विरण पुस्तक म ८० वें पृष्ठ पर कानजी लिखत हैं—

“श्री वीतराग की वाणी का अर्थ भा पर विषय है और स्त्री भी पर विषय है। ज्ञानों के पर विषय की शक्ति नहीं है। वीतराग की वाणी को अर्थ की भी भावना ज्ञानों के नहीं है।”

जन संस्कृति का मूल आधार जहाँ सत्यश्रद्धा सत्मान, सम्बर्धन है वहाँ उस श्रद्धा ज्ञान आचार का मूल कारण बीतराग देव, जिनवाणी और निरय गुरु हैं। अतएव सम्पत्त्व उत्पन्न करने के लिए यह प्रतिपाद्य आवश्यक है कि स्वच्छ हृदय से बीतराग देव, जिनवाणी और निरय गुरु की श्रद्धा भक्ति, उपासना की जावे। आत्मा में सत्ज्ञान का विकास सभी होता है।

केवल ज्ञान होने से पहले सभी जीव अधस्त्य (अज्ञानी) होते हैं श्रद्धालु स्त्री पुरुष जिनवाणी को सुनकर तथा स्वाध्याय करके अपने ज्ञान को विवर्धित किया करते हैं। आजकल की जनता में तो भवधि, मन पर्यय ज्ञान किसी को है नहीं किन्तु इसके साथ ही विशिष्ट भक्ति-और पूण धृतज्ञान भी नहीं है। अब छोटे काम के अधिज्ञानी, मन-पर्ययवाणी भी समयशरणा में जाकर रुचि से जिनवाणी (दिव्यध्वनि) सुनते हैं और उसी के निमित्त से अपनी मान धृष्टि करके मुक्ति प्राप्त करते हैं तब आज कामजी स्वामी श्रद्धालु जनता को श्रद्धा से भ्रष्ट करने के लिए उल्टी बात कहते हैं कि 'जानी को बीतराग की वाणी श्रवण करने की भावना नहीं होती।'।

'अज्ञानी (मूल) तथा मिथ्याज्ञानी को जिनवाणी सुनने की भावना न हो यह बात तो मानी जा सकती है परन्तु सम्पत्ज्ञानी के अपार जिन वाणी को सुनने की भावना न होवे।' यह बात तो बिल्कुल असटी है।

निम्नसार प्राय से श्री कण्डकूट आचार्य ने पर पदाय रूप जिनवाणी का सत्यत्व की उत्पत्ति का कारण बतलाया है—

'सम्पत्त्व निर्मित जिनमुत्पत्तता ज्ञानमा पुरित्ता' यानी सम्पत्त्व उत्पन्न होने का निमित्त कारण मिनपूत्र (जिनवाणी) तथा जिनवाणी के ज्ञानी पुरुष हैं।

कान जी अपने आपको महान ज्ञानी मानते हैं (किंतु सब कोई जानता है तथा स्वयं कान जी स्वामी समझते हैं कि उनका ज्ञान, समुद्र में एक बूद के बराबर है।) फिर भी वे जिनवाणी—समयसार व्यवधानसार आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय दक्षि से स्वयं क्यों करते हैं ?

छुद (स्वयं) जिस बात को हितकारी समझकर करना और दूसरों को उस बात से दूर रखने की चपट करना, विलक्षण बात है।

जिनवाणी को परस्त्री की हीन उपमा देना बितना निम्नीय है यह बात भी स्तनक मन में नहीं आती ?

जब बुद्धिमान पुण्य धर्मों द्वारा अपनी ज्ञानवृद्धि करता है तब कान जी स्वामी जिनवाणी—आपग्रन्थों को 'पर विषय बतलाकर उनमें से दक्षि पूर्वक स्वाध्याय से साधारण जनता को बचित रहने का उपदेश देते हैं।

कान जी का स्मरण

सोनगढ़ में चम्पा बहिन बहुत ज्ञानवती विदुषी समझी जाती हैं। उसने अपने अपने पिता जी को अंतिम समय (मृत्यु के समय) एक पत्र लिखा था। वह पत्र 'आम घम पत्र क १२ वें वय के ५ वें अक्ष में निम्नलिखित प्रकाशित हुआ है—

'परमपूज्य महारात्री श्री कान जी परम पुरख हैं उनका बहुमान पूर्वक स्मरण करना चाहिए।

“उपरोक्त भावना बहिन श्री (चम्पा बहिन) ने अपने पूज्य पिताजी को अंतिम समय में माने के लिए लिख दी थी। जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने से यहाँ भी है।

यहाँ विचारणीय यह है कि सम्मान के लिए वन्दनीय तथा स्मरण करने योग्य अक्षत, विद्व, आचार्य उपाध्याय और सबसाधु हैं एभीकार मत्र म गया है।

जल श्री वसु पाँच परमेष्ठियों में से कोई भी नहीं है वे ए साधारण धरती हैं । उनके सान पान, आहार विहार आदि में वरान का कोई विह्व नहीं पाया जाता, ऐसा दगा में मरु समय उन स्मरण करने की प्रेरणा करना वही तक उचित है ?

उपदेश देना जड़ की क्रिया है ?

मोक्षमार्ग को किरण—पुस्तक म १७८ वें पृष्ठ पर जान लिखते हैं—

दूसरों को उपदेश देना मुनि का सदाग नहीं है उपदेश जड़ क्रिया है आत्मा उसे नहीं कर सकता ।

शब्द बुद्बुल वगणा रूप होते हैं, अत वे जड़ हैं, मह बात ठीक है, परन्तु इसके साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि उपदेश रूप शब्द केवल जड़ क्रिया रूप नहीं होत, जगत का कोई भी जड़ पदार्थ (शब्द वगणा) अपने आप शब्द रूप परिणत नहीं हुआ करता यदि ही तो उसे प्राण श्री स्वामी बतलावें । जानी आत्मा की प्रेरणा से शब्द वर्ण एणए शब्द रूप परिणत होती है, श्री पूज्यपाद धावाय न सार्बोपसिद्धि के पाँचवें अध्याय में ऐसा ही लिखा है । सुनने वाले आत्मा का वे शब्द हेय उपादेय, बतस्य, अकसस्य, रुपय रुपय का ज्ञान उत्पन्न कराते हैं ।

इस तरह उपदेशी शब्दों का प्रेरक निमित्त कारण जानी आत्मा और उन शब्दों का फल श्रोता का ज्ञान, विवेक प्राप्त रूप श्रोता है ।

इसी के अनुसार तीर्थहृर की दिव्यध्वनि जानी है और अत ही वे समवशरण में जाकर उसे सुन हैं । जिससे उका आध्यात्मिक हित होता है ।

अहन्त भगवान के पद विज्ञा पर चलकर मुनि भी वसा उपदेश देते हैं । जिससे उपदेश सुनने वाले अदन जीव सिध्यात्म, बुजान और दुषार शोड कर स्व-पर-बह्याण करत हैं ।

इसलिए कान भी का उपर्युक्त सिद्धना गलत है, भ्रम पैदा करने वाला है तथा जन सिद्धान्त के विरुद्ध है अतः यह जन साहित्य का विचार है।

हिंसा से पुण्य बन्ध

कानजी कहते हैं—

‘हिंसा करते समय भी कसाई को मत्प-अल्प पुण्य-बन्ध होता है।’

—श्रीशमार्ग की किरण अ० ३ पृष्ठ १२२

तत्त्वाप्तसूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय का तीसरा सूत्र लिखा है—

शुभ पुण्यास्याशुभ पापस्य।’ ६३।

अर्थ—जीवरक्षा करना, हित मित्र सत्य प्रिय वचन बोलना आदि शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति (शुभ योग) पुण्य आस्रव का कारण है और हिंसा करना, असत्य बोलना, कामक्रीडा आदि अशुभ योग पाप-आस्रव (असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों का आस्रव) का कारण है।

पुण्य-आस्रव और पाप आस्रव की इस परिभाषा का सभी दि० जैन ग्रन्थकारों ने समर्थन किया है।

तदनुसार कसाई बकरा, गाय आदि जीवों की छुरी आदि से हिंसा करते समय अपने मन वचन काय योग से पाप कर्मों (असाता वेदनीय मरक गति आदि) का आस्रव तथा बन्ध करता है।

परन्तु कानजी पुण्य पाप आस्रव की उस अर्थ व्याख्या पर पानी फिरते हुए जीव-हिंसा करते समय भी कसाई के पुण्य-बन्ध का कपोल कल्पित विधान करने से बचाव को पथभ्रष्ट करना चाहते हैं। ‘हिंसा करने से पुण्यबन्ध होना’ यह कानजी के सिवाय अन्य किसी जन ग्रन्थ-
कार ने नहीं कहा है।

दिव्यध्वनि से कुछ लाभ नहीं ?

पोदाभाग की निरण पुस्तक के २१२ वें पृष्ठ पर कानजी ने लिखा है—

‘ तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता ।’

जगत का मोह अपना अधकार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि (वाणी) से दूर होकर जगत में धर्म का तथा सत् ज्ञान का प्रचार होता है भव्य शीघ्रा का मिथ्यात्व, धर्म, सशम आदि दूर होता है । इसी कारण असह्य सुर नर पशु वृद्धि के साथ समवशरण में आकर तीर्थङ्कर की वाणी को सुनकर आरमहित करते हैं, समयसार आदि प्रायः भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार ही लिखे गये हैं । श्री कुन्दकुन्द आचार्य अष्ट पाहुड़ में लिखते हैं—

जिणवयणमोसहमिणं विसयमुहविरेयणं अमियमूयं ।

जरमरणवाहि—हरणं लयकरणं सध्वदुक्खणं ॥१७॥

- अर्थ—तीर्थङ्कर जिनेन्द्र की वाणी सांसारिक विषयमुख रूपी रोग का विरेचन कराने के लिए (मल त्याग कराने के लिए) अमृतरूप शोधक है, जरामरण व्याधि को दूर करने वाला है तथा समस्त दुःखों का क्षय करने वाली है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य भी इस तरह तीर्थङ्कर की वाणी को जगत का कल्याण करने वाली कहते हैं और कुन्दकुन्द आचार्य में अपनी गहरी श्रद्धा भक्ति प्रगट करने वाले कानजी कुन्दकुन्द आचार्य के जपत कथन से विशद कहते हैं कि “तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता” कानजी का यह उल्लेख कितना अनपकारी असत्य है ? इसको जनसिद्धांत में जाता विद्वान् स्वयं अनुभव करें । यदि सत्तार में तीर्थङ्कर की वाणी से भी लाभ नहीं हुआ तो क्या उससे विपरीत कानजी के कथन से जनता का लाभ ही संभवा ?” यह एक प्रश्न है जिस पर सर्व साधारण को विचार करके निणय करना है ।

तीर्थ-वन्दना क्या है ?

शान्ति स्वामी मोक्षमार्ग की विरह पुस्तक के १७०वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि—

“कोई कहें कि “सम्मोदगिरि और गिरिनार का वातावरण ऐसा है कि मन को रचि होती है एसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।”

सम्मोदगिरि गिरिनार आदि स्थानों में तीर्थ-दर्शन तथा धर्म-स्य अथ मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की है उन स्थानों पर आकर प्रत्येक स्त्री पुरुष उन मुक्त पुरुषों का हृदय से स्मरण करते हैं इस कारण वहाँ के वातावरण में भीतरात्मता का उच्च भव्य शोभों को हुआ करता है, अनेक व्यक्ति तो वहाँ आकर सत्कार से विरक्त होकर मुनि भी बन पाते हैं। इसी कारण उन मुनि स्थानों को तीर्थ (सत्कार सागर से पार करने वाला) कहते हैं।

परन्तु शान्ति जी का धार्मिक श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर भोली जनता में भ्रम फैलाते हैं। परमात्मप्रकाश में लिखा है—

‘व्यवहारतयेन निर्वाणस्थान-सत्त्वासमाधिक-तीर्थभूतगुण-वभरणार्थं तीर्थं मवति ।

शान्ति—व्यवहारतय से निर्वाणभूमि और शैवालक (जिन मन्दिर) आदि में वास्तविक तीर्थकराणि व गुरु स्मरण करने व लिय तीर्थ (सत्कार सागर से पार करने वाला स्थान) होता है।

शान्ति शान्ति जी उलटी बात लिखकर जनता को तीर्थ-वन्दना से दूर रमना चाहते हैं। इसके साथ ही स्वयं इन सम्मोद गिरिनार आदि तीर्थों की वन्दना भी करते हैं।

नाथ शान्ति जी अपने आप को सिद्ध गमान मान कर तीर्थ-वन्दना को अहितकारी या व्यर्थ समझते हैं। अपने आपकी

सिद्ध समझने वाला कि लिये थी १० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखा है कि—

“अपनी आत्मा को सिद्ध समान अनुभव है तो आप प्रत्यक्ष सत्तारो है। भ्रम करि आपको सिद्ध मान सोई मिथ्यादृष्टि है।”

निश्चय एकात्मवादी बान जी आदि श्री १० टोडरमल जी के उक्त वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें।

जीयो और जीने दो

अन्त में मैं एक बात कह कर इस प्रकरण को समाप्त करता हूँ। कान जी ने मोक्षमार्ग की किरण के १८४ वें पृष्ठ पर लिखा है—

जीयो और जीने दो ऐसा प्रज्ञानी कहते हैं।

आजकल का मनुष्य इतना अधिक जिह्वा-सोपुषी बनता जा रहा है कि मुर्गा आदि जीवों को जीवित बलाकर उसका मांस खाने लगा है, अण्डा खाता है, मछली, बबूतर आदि जीवों को बड़ी निश्चयता से मारकर उनसे अपना पेट भरता है और प्रसन्न होता है। जीवित गाय, भैंसों के शरीर से घम उतारा जाता है गभिणी गायों, भेडा, बकरियों को शीघ्र खिसाकर उनका गमपाश कराते हैं फिर उनसे पेट से निकले हुए बच्चों का कोमल घमडा उतार कर कोमल जूते बनाते हैं। इत्यादि रूप से आज का निन्द्य मनुष्य हिंसा कर रहा है। ऐसे घम कम अष्ट निन्द्य हिंसक मनुष्यों को जीव हिंसा से छुड़ाने के लिये साधारण जनता में कहा जाता है कि—

‘जीयो और जीने दो

यात्री—सुम स्वयं शांति से अपना जीवन व्यतीत करो तथा अन्य जीवों को शांति के साथ जीने दो। अर्थात् किसी भी जीव की मत्त मतताओ।

इस अहिंसा-सूचक दयामय वाक्य से जनता का सत्य हिंसा तथा निर्दयता की घोर से हृत्कर उसको सभ्यार्थ पर भगने की प्रेरणा मिलती है इसमें अज्ञान की कौन-सी बात है, यह तो अहिंसा प्रचार के लिए बुद्धिमान ज्ञानी की भावना है ।

क्या कान भी 'मरो और मारो' को ज्ञानी की भावना मानते हैं ? पता नहीं अहिंसा धर्म तथा दया भाव से काट भी को क्यों अक्षि है ?

इसी तरह का साहित्य विकार कान जी स्वामी की पुस्तकों में अगह अगह पाया जाता है ।

कान जी स्वामी को तथा पूर्वोक्त अथ अल्प-लेखकों को अपने-अपने निमित्त धर्मों में से ऐसा विद्वत् अर्थ दूर करके स्वपर बक्ष्याण करना चाहिए । क्योंकि मोली जनता को विद्वत् साहित्य द्वारा पथ भ्रष्ट करना महान अपराध है ।

'अन्नपेष्टममृतं' इस वाक्य का सीधा सात्विक अर्थ था कि 'उगने की शक्ति रहित पुराने औं से हवन करना चाहिए' परन्तु 'अन्न' शब्द का अर्थ 'बकरा' करके 'बकरों को काट कर हवन करना चाहिये ।' ऐसा समर्थन बसु राजा ने किया जिससे वह स्वयं तो नरक में गया ही परन्तु उसके उस ममत्त समर्थन से जगत में पशुओं की हत्या करके हवन यज्ञ करने का नृमार्ग प्रचलित हो गया ।

ऐसा ही अनर्थ विद्वत् साहित्य द्वारा हुवा करता है ।

बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषों को ऐसे विद्वत् साहित्य से सदा दूर रहना उपित है ।

अर्थ का अन्वय

श्री कानजी स्वामी ने प्रत्यकार के सुन्दर भाव के स्थान पर स्व-
यवास कल्पित कितना अशुचित अन्वय किया है उसका नमूना देखिये—

उत्तमशीच धर्म

परपरहराधारिषु ज तुषु निगृहमहितक चेत् ।

दुर्भेद्यारगतमसहसदेव शीच पर नायसु ॥६४॥

—पद्मनदि पञ्चविंशतिका (दश सप्तम धर्म)

श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, सोनगढ़

‘सगजन पुष्यों के परस्त्री सेवन का भाव होता ही नहीं। किन्तु
वास्तव में तो शुभभाव भी परस्त्री है। शुभभाव से आत्मा को साम
मानकर शुभपरिणति का सम करता। यह परस्त्रीगमन है। पृ० ३८ ४०

प्रत्यकार ने तो अपने दलोक में शीच धर्म का स्वरूप बतसाया कि
‘परस्त्री आदि जीवों में नि गृह होना, अहितक चित्त होना तो अन्धरङ्ग
दुर्भेद्य मन के मल को दूर करने वाला शीच धर्म है।’ इस अर्थ का
अन्वय करके कानजी कहत हैं कि ‘शुभभाव ही परस्त्री है।’ परस्त्री
स्वाग के शुभभाव ‘परस्त्री’ कसे बन गये ? यह तो मन का ब्रह्मचर्य
शुद्ध भाव रूप है।

उत्तम सत्तम धर्म

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मित्तममत्तसम शब्द सत्य च

अवतव्य अचममय प्रतिषेय धीयनर्मोन्म ॥६१॥ पद्य० पञ्च०

‘मेरे शूभराग से या वाणी से मुझे या अर्थ को साम हो, अपना
निमित्त बनकर दूसरे को समझा दू—ऐसा जिसका अभिप्राय है यह

धीरे-धीरे अक्षय्य अग्निप्राय का सेवन करने वाला मिथ्यादृष्टि है।" पृ० २०
 प्रायश्चित्त ने उक्त श्लोक में सत्य धर्म का स्वरूप बतलाया है कि मुनि
 या तो अमृत समान स्वपरहितकारी वचन बहनें अथवा मौन रखें। कान
 जो इस सुन्दर अर्थ को बिगाड़ कर मतमाना कुछ और ही अर्थ सिखकर
 भ्रम फैला रहे हैं। यदि सत्य हितकारी वाणी से अर्थ जीवों का कल्याण
 न होता तो क्यों तो अहन्त भगवान की दिव्यवाणी होती, क्यों श्री कृष्ण
 कुछ आचार्य समय-समय सिखते और क्या आप प्रवचन करते हैं ?

“सिद्धचक्र की पूजा करने से बृष्ट रोग दूर हो जाता है—ऐसा
 कथन शास्त्र में निमित्त से आता है उसे कोई यथाय हो मान ले तो
 वह मिथ्यादृष्टि है।” मो० प्र० किरणें मा० अ०

भगवान की भावसहित पूजा जब परम्परा में मुक्ति देने वाली है तो
 बृष्ट रोग दूर होना तो साधारण बात है। श्रीराम का कुछ भगवान
 के प्रशंसित मधोधर से दूर हुआ ही था। इसमें मिथ्यात्व की क्या बात
 है ? क्या आपको इस ऐतिहासिक घटना पर विश्वास नहीं है ?

अनन्तवार शास्त्रपाठी हुआ, अनन्तवार भगवान के समकारण
 में गया, अनन्तवार इत्यादि भी धारण किया किन्तु स्वयं कौन है और
 पर कौन है उसका यथाय ज्ञान करने पराधीन दृष्टि नहीं छोड़ी।

—मोक्ष० प्र० की किरणें पृ २७४

“अनन्तवार ऐसा आगम ज्ञान हुआ कि बाह्य में कोई भूल सिद्धाई
 न दे। अब तो आगम ज्ञान का भी ठिकाना नहीं है। जो आगम से
 विरुद्ध प्ररूपण करता है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही।”

—मोक्ष० प्र० की किरणें सा० अ० पृ० २७६

जान जो भी अब अब तक अनन्त भ्रम धारण कर चुके हैं तो
 उनको आगम के विरुद्ध अब तो प्ररूपण न करना चाहिये, वे जो उपदेश
 दूसरों को देते हैं उनका आचरण स्वयं ही करें।

‘बुद्धि है सत्कार में, एक यथारथ ज्ञान’

कतिपय

विद्वानों के

पठनीय

अभिमत

अन्त में विभिन्न विद्वानों के कुछ पठनीय लेखों का उपयोगी समझ कर यहाँ उद्धृत किया जाते हैं ।

नियतिवाद दृष्टिविषय

(ले०—डा० प्रो० महेन्द्रगुप्तार यायाधाय बनारस)

आज श्री कान जी स्वामी की वस्तु विज्ञानसार पुस्तक को पसन्द करने में सच प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि नियतिवाद का कालकूट ईश्वरवाद से भी भयकर है । ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाता है । ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है । पर नियतिवादा भ्रमेय है । आश्चर्य तो यह है कि इसे अनन्त पुरुषाय का नाम लिया जाता है । यह कालकूट कूट कृन्द, अध्यात्म, सवज्ञ सम्यग्दान और धर्म की शक्ति में सपेट कर दिया जाता है । ईश्वरवादी सच के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इन नियतिवादा कालकूट का इस भीषण दृष्टिविषय का कोई उपाय नहीं क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समस्त की पर्याय नियत है ।

‘ममन्ति वेत्ता तो तब होती है जब इस मिथ्या एक म्य विष की बनेकान्त समुह के नाम से कोमपयति मई पीढ़ी को गिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सन्त के निम्न पुरुषार्थ से निम्न रिमा आ रहा है। (पृष्ठ ४८)

‘नियतिवाद में स्वपुरुषार्थ भी नहीं—निष्पत्तिवाद में अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जान दीजिये स्वपुरुषार्थ भी नहीं है। विचार तो कीजिये जब हमारा अत्येक क्षण का कार्यक्रम मुनिदिशत है और अनन्तकाल का, उसमें हेरफेर का ह्यको भी अधिकार नहीं है तब हमारा पुण्याप बड़ा ? और कहाँ हमारा सम्बन्ध ? हम तो एक महानियति यज्ञ के अंत घोर इसके परिचयन के अनुसार प्रतिपाल्य बम रहे हैं। यदि हिंसा करत है तो नियत है, अस्मिन्धार करते हैं तो नियत है, बोरी करते हैं तो नियत है, पापविम्ना करत है तो नियत है। ह्यारा पुण्याप कहाँ होगा ? कोई भी क्षण इस नियतभूत की मीचरवी से रहित नहीं है, जब हम अन्त मेकर कुछ अचना अविद्य निर्मात कर सकें।’

—सत्यापवति भूमिका (पृष्ठ ४१ २०)

स्याडाद और सप्तभगी

(ले०—२० अनगुषदास म्यामनीय)

स्याडाद और लोक व्यवहार—

स्याडाद का उपयोग ठीकी है जब व्यावहारिक जीवन में उतारा जाय। मनुष्य के आचार विचार ऐहिक अनुष्ठानों में स्याडाद केवल इगलिय हमारे सामने नहीं आया कि वह पास्वीय निम्नानिम्नवादि विचारों का ममम्बव बनने। उसका मुख्य काम तो मानव के व्यावहारिक जीवन में आ जाने वाली मुद्दामों को दूर करना है। मनुष्य परम्पराओं व कर्तव्यों से विचर रहना चाहते हैं। यह उनको संस्कारगत निर्वचता है। ऐसी निर्वचताओं को स्याडाद के द्वारा ही दूर किया जा

सकता है। स्याद्वाद को पाकर भी यदि मनुष्य द्रव्य, क्षेत्र, भास और भाव के द्वारा होने वाले परिवर्तनों को स्वीकार न कर सके, उसमें विचारों की सहिष्णुता न हो तो उसमें सिद्ध स्याद्वादा बिलकुल निरूपयोगी है। दुःख है कि मानव जाति के दुर्भाग्य से इस महामहिम वाद को भी लोगों ने व्याग्रह मरी दृष्टि से ही देखा और इसकी असली कीमत मांकने का प्रयत्न नहीं किया। हजारों वर्षों ने प्रार्थों में धरा रहे हमको जगत् अदमी आचार का रूप दे दे तो उसकी सब घापणएँ दूर हो जायें। भारत में धर्मों की सहाय्य सब तर्क बन्द नहीं होंगी जब तक स्याद्वाद के ज्योति-मय नेत्र का उपयोग नहीं किया जायगा।'

(पृष्ठ २५)

'स्याद्वाद परमाणु का जीवन है। वह परमाणु न रहे तो सारा परमाणु धातुष्ट हो जाय। उसे परमाणु का धीज भी कह सकते हैं। क्योंकि इसी में सारे परमाणु की शक्तियाँ झोत प्रोत हैं। स्याद्वाद इसीलिये है कि जगत के सारे विरोध को दूर कर दे। यह विरोधको बरदास्त नहीं करता, इसी से हम कह सकते हैं कि धन धर्म की अहिता स्याद्वाद के रग रग में भरी पड़ी है। जो वाद बिना दृष्टि कोण है, स्याद्वाद व है दृष्टि देता है कि तुम इस दृष्टि-कोण को लेकर अपने वाद को सुरक्षित रखो, पर जो यह कहने के आवी है कि केषम हमारा ही कहना समर्थ है, स्याद्वाद उनके विपक्ष खड़ा होता है, और उनका निरसन किये बिना उसे धन नहीं पडती, इसलिए कि वे ठीक राह पर आ जायें और अपने व्याग्रह द्वारा जगत् में सधर्म उत्पन्न करने के कारण न धन।

सर्जना के अतीत इतिहास की एक झलक

[ले०—१० कृतघ्न जन सिद्धांत शास्त्री]

‘यहाँ आचार्य मुन्मुद की सवज्ञा के समय के सभी दृष्टि प्राप्त कर आत्मस्वरूप के विद्वेषण में भीन हो जाना है। तभी तो वे यहाँ लिखते हैं “यद्यपि व्यवहार नय की घरेगा केवली सबकी जानते हैं, किन्तु निर्वचय नय की घरेगा वे अपने को ही जानन और देखते हैं।’ आत्मस्वरूप का किन्तु सुन्दर विवरण है। ज्ञापक भाव आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह धारमनिष्ठ है। अतः एतन्न हुआ कि निर्वचय नय से आत्मा स्व को ही जानता और देखता है तथा व्यवहार द्विविधायक है। उभयका अन्त के बिना काम नहीं चलता। अतः एतन्न हुआ कि व्यवहार नय ने आत्मा सबको जानता और देखता है। बात यह है कि काय कारण व्यवहार, जिसकी तीक पर सारा सकार सब प्रतिक्षण घूम रहा है, कबल स्वरूप के विद्वेषण करने तक सीमित नहीं है क्योंकि यह निर्विधायक है। हम देखते हैं कि दो या दो से अधिक परमाणुओं के मिलन से मध्य बनता है और फिर उनमें मिट्टी धारि विविध तत्वों की उत्पत्ति होती है तदन्तर उन्हें पान भक्षण से ग्रहण करना है। तब इन को मिथ्या कहे कहा जा सकता है? तब और मिथ्या से तब सापेक्ष है। अविद्यों का प्रयाजन घूम यस्तु का जान बटाना रहा है। अतः उन्होंने व्यवहार की मिथ्या आदि जा कुछ जी में धारा सा कहा। अन्तियों ने तो यह

+ आचार्य परसदि तन्म व्यवहारक्षण केवली भगव ।

केवलशापी भाषदि परसदि लिदमेन मन्वार्त् ॥ १२८ ॥ नि०सा०

द्विविधामय जगत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहा, पर क्या इससे व्यवहार नाम दोष हुआ ? यदि निश्चय तत्प्रापिहित है तो यह अपनी अपेक्षा से ही । यदि व्यवहार की अपेक्षा से भी उसे वैसा मान लिया जाय तो बाध मोक्ष को धर्मा करना ही छोड़ देना चाहिये । कठिनरथ ० धनारसीदाम जी ने ऐसा किया था, पर अंत में उन्हें एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की कारण में आना पड़ा । धाचार्य कृदकुन्द ने भी व्यवहार को प्रभूताय कहा है यह व्यवहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है । व्यवहार अपने धर्म में सतना ही मत्व है, जितना कि निश्चय । जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते हैं किन्तु हमारा वह सब जानना झूठा नहीं है फिर भी वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही रहता है । उसी प्रकार केवली भगवान् सब पदार्थों को जानते और देखते हैं, किन्तु उनका वह जानना अज्ञान नहीं है । फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है उपयुक्त व्यवहार और निश्चय की कवनी का वही मथिताय है ।

—पृष्ठी धर्मिनन्दन पन्थ पृष्ठ ३१४ ३१५

सम्यक्त्व के साधन

साधन दो प्रकार हैं—अभ्यन्तर और बाह्य । दयानमोहनीय का उपसम शय या शयोपगम अभ्यन्तर साधन है । बाह्य साधन निम्न प्रकार है—नारकियों के चौथे नरक से पहुँचे तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के वेदना अभिभव से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है । चौथे से लेकर सातवें तक किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दयान उत्पन्न होता है ।

तिसरों में किन्हीं के जातिस्मरण किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के जिनविम्बदयान से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । मनुष्यों के भी इस प्रकार जानना चाहिए ।

देवों में किन्हीं के जातिस्मरण किन्हीं के धर्मधरण किन्हीं के जिनमहिमाचर्यन, और किन्हीं के देवशुद्धिदर्शन से सम्पादन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था मानव कल्प से पूर्व तब जानना चाहिए। धानस, प्राणत आरण और अभ्युत कल्प के देवों के देव शुद्धिचर्यन को छोड़ कर दोष तीन साधन पाये जाते हैं। नौ ग्रंथेयक में विचार करने वाले देवों के सम्पादन का साधन किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के धर्मधरण है। अनुदिश और अनुतर्कियानों में रहने वाले देवों के यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वही सम्पादक ही ही उत्पन्न होत है।

—प० कूलचन्द जी द्वारा अनुदित सर्वाधिकारिण, पृष्ठ २६ २७

परिणामन

वर्तनापरिणामक्रिया परस्वापरस्वे च कालस्य ॥३२॥

वर्तना परिणाम, क्रिया, परस्व और अमरस्व च काल के उत्पन्न हैं ॥३२॥

अर्थ—यद्यपि वर्तनादि द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तोभी वह बाह्य महका के कारण च बिना नहीं हो सकती इमलिए उभे प्रवृत्ताने वाला बाह्य है, ऐसा मानकर वर्तना काल का उत्पन्न कहा है।

—प० कूलचन्द जी द्वारा अनुदित सर्वाधिकारिण, पृष्ठ २६१
भाषाय कुलकुल को देन

—श्री प्रा० दत्तगुप्त भागवतप्रिया

‘ यदि व्यवहार नय नहीं तो निश्चय भी नहीं। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नहीं। संसार और मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष है उसी प्रकार व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष है।

—वर्णो भाषि० ग्रन्थ पृष्ठ ४४

जो सच्चमण्यत नियमा सहृद्वि सत्तमगेहि ।

लोधारण पण्ह वसदो ववहार-पयत्तण्ठ च ॥३७७॥

—कार्तिकेय पृष्ठ ॥२२१॥

अर्थ—जो लोगों के प्रदनों के वगैरे तथा व्यवहार को चलाने के लिए सप्त भगो के द्वारा नियम से अनेकांत तत्व का अदान करता है वह शुद्ध सम्मगृष्टि है ।

श्रीमद् रायचन्द्र में

नय निन्दय एकांतयो, धामा नयो बहेस ।

एकांति व्यवहार नहि, बने साय रहेस ॥१३२॥

—आत्म सिद्धि, पृष्ठ ६२१

अर्थ—यहाँ एकांत से निन्दय नय को नहीं कहा, अथवा एकान्त से व्यवहार नय को भी नहीं कहा । दोनों ही जहाँ जहाँ जिस जिस तरह घटते हैं, उस तरह साय रहते हैं ।

उपादाननु नाम सई, ए जे सजे निमित्त ।

पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे आंतिमा स्थित ॥१३६॥

—आत्म सिद्धि पृष्ठ ३२

अर्थ—सद्गुरु की आज्ञा आदि आत्म साधन के निमित्त कारण है, और आत्मा के ज्ञान दशन आदि उसका उपादान कारण है—ऐसा आत्मन म कहा है इससे उपादान का नाम लेकर जो कोई उस निमित्त का त्याग करेगा वह विद्वत्त्व को नहीं पा सकता, और वह आंति म ही रहा करेगा । क्योंकि शास्त्र में उस उपादान की व्याख्या सच्चे निमित्त के निषेध कहने के लिए नहीं कही । परन्तु शास्त्रकार की कही हुई उस व्याख्या का यही परमाथ है कि उपादान के अज्ञात रखने से सच्चा निमित्त मिलने पर भी काम न होगा, इसलिए सद्निमित्त मिलने पर उस निमित्त का अवलंबन लेकर उपादान को सम्मुख करना चाहिए, और पुरुषाय हीन न होना चाहिए ।

